शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

दिसम्बर : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ८

श्री गुरु की सेवा का प्रसाद

गुणों में महान ऐसे श्रीगुरु के चरणकमल की सेवा के प्रसाद से निर्मल चित्तवाले पुरुष अपने अंतर में चैतन्य परमतत्त्व का अनुभव करते हैं। देखो, यह गुरु और उनकी सेवा का प्रसाद! गुरु गुणों में महान होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शनज्ञानादि गुणों से जो महान हैं, ऐसे गुरु शिष्य से कहते हैं कि—'शरीर में रहते हुए भी जो शरीर से भिन्न है, ऐसे अपने परम चैतन्यतत्त्व का अंतर में अवलोकन कर! शरीर में स्थित होने पर भी चैतन्य का अनुभव होता है।' गुरु के ऐसे वचन सुनकर निर्मल चित्तवाला शिष्य अंतर में तद्रूप परिणमित हो जाता है.... गुणों में महान गुरु जैसा कहते हैं तदनुसार शिष्य परिणमित हो जाता है,—यही गुरु के चरणों की परम सेवा है.... और ऐसी सेवा के प्रसाद से वह शिष्य अंतर में अपने आत्मा का अनुभव करता है।

(नियमसार गाथा १८० के प्रवचन से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८८]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

श्री नियमसारजी

(सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

महान आध्यात्मिक भगवत शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्ण रूप से संशोधित, यह ग्रन्थ महान पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५ बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर मजबूत जिल्द मूल्य ५.००) मात्र, पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन २५) सैं० देंगे। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

मिलने का पता —

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

प्रथम भाग (तीसरा संस्करण)

छपकर तैयार है, जिन्हें चाहिये वे शीघ्र आर्डर भेजकर मंगवा लेवें। मूल्य ६० न. पैसे।

★

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

दिसम्बर : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ८

चैतन्य के शांतरस का आमंत्रण

अपने अंतर में अपूर्व अतीन्द्रिय शांतरस का अनुभव करके संत-धर्मात्मा आमंत्रण देते हैं—किसे आमंत्रण देते हैं ? समस्त जगत को। काहे का आमंत्रण देते हैं ? शांतरस का स्वाद लेने का। अपने अंतर में शांतरस का समुद्र उछल रहा है, उसके अनुभवपूर्वक धर्मात्मा-संत जगत के सर्व जीवों को आमंत्रण देते हैं कि हे जगत के जीवो! आओ... आओ... यहाँ भगवान ज्ञानसमुद्र में शांतरस उमड़ रहा है... उसमें निमग्न होकर उसका अनुभव करो। इमरती और गुलाबजामुन आदि का रस तो जड़ है, उसके अनुभव में तो अशांति है; तथा वह तो अनंतबार भोगी हुई जूठन है... इसलिये उस जड़ स्वाद की रुचि छोड़ो... और इस चैतन्य के शांतरस का आस्वाद करो। यह शांतरस का समुद्र इस तरह उमड़ा है कि समस्त लोक को अपने में डुबा ले... इसलिये जगत के सर्व जीव एकसाथ आकर इस शांतरस में निमग्न होओ... सर्व जीव आओ... कोई बाकी न रह जाना... इसप्रकार समस्त जगत को आमंत्रण देकर वास्तव में तो धर्मात्मा शांतरस में लीन होने की अपनी भावना की ही पुष्टि करते हैं।

मज्जतु निर्भरममी सममेव लोका,
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवान अवबोधसिन्धुः॥३२॥

आचार्य भगवान ने मोक्षमार्ग को स्पष्ट करके समझाया... शांतरस का समुद्र दिखलाया... उसे समझकर चैतन्य के शांतरस सागर में निमग्न हुआ शिष्य अपना प्रमोद प्रकट करते हुये कहता

है कि—अहो! यह ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आचरण को हटाकर स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; इसलिये अब समस्त लोक उसके शांतरस में एकसाथ निमग्न होओ! यह तरस समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है।

देखो, यह आमंत्रण! शांतरस में निमग्न होने का आमंत्रण कौन स्वीकार नहीं करेगा? चैतन्य के असंख्य प्रदेशों में शांतरस का समुद्र उछल रहा है, वह आचार्य भगवान ने दिखलाया... उसमें डुबकी कौन नहीं लगायेगा? यहाँ तो कहते हैं कि समस्त जगत आकर इस शांतरस में डुबकी लगाओ!

अहा हा! ऐसा भगवान आत्मा का शांतरस! भगवान-आत्मा का ऐसा अद्भुत स्वभाव देखकर धर्मात्मा का भाव उछल गया है कि अहो! आत्मा का ऐसा शांतरस सर्व जीव प्राप्त करो! सर्व जीव आओ! धड़कते हुये अंगार समान विकार में से बाहर निकलकर इस शांतरस में मग्न होओ... अत्यन्त मग्न होओ... कोई कमी न रखना। यह शांतरस थोड़ा नहीं है किंतु समस्त लोक में उछल रहा है..... शांतरस का अपार सागर भरा है.... उसमें लीन होने के लिये समस्त जगत को डंके की चोट आमंत्रण दिया जा रहा है।

अपने भाव में जो रुचिकर है, उसका दूसरों को भी आमंत्रण देते हैं। कुछ श्रावकजन साधर्मियों को भोजन कराते हैं, उनमें कुछ के भाव ऐसे होते हैं कि कोई भी साधर्मीजन शेष न रह जाये... क्योंकि उनमें कोई जीव ऐसा श्रेष्ठ हो कि भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला हो; कोई केवली होनेवाला हो; कोई अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला हो;—ऐसे धर्मात्मा के उदर में मेरा भोजन पहुँच जाये तो धन्य है मेरा अवतार! भविष्य में कौन तीर्थंकर होनेवाला है, कौन अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला है, उसकी खबर भले न हो, किंतु भोजन देनेवाले का भाव तो ऐसा है कि अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करनेवाला कोई धर्मात्मा रह न जाये। इसका अर्थ यह है कि आहारदान देनेवाले को धर्म और मुक्ति का प्रेम है। यदि ऐसे भाव यथार्थ आत्मभावना पूर्वक हों तो उसे अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करने के भाव हैं; इसलिये दूसरे साधर्मियों के प्रति वे भाव उमड़ आते हैं।

जिन्होंने चैतन्य के शांतरस का स्वाद लिया है, ऐसे संत-धर्मात्मा सारे जगत को आमंत्रण देते हैं कि—कोई भी जीव इस शांतरस का स्वाद लिये बिना रह न जाये... समस्त जगत एकसाथ आकर इस शांतरस का स्वाद लो... इसमें निमग्न होओ!—इसमें वास्तव में तो स्वयं को ही भगवान आत्मा के शांतरस में निमग्न हो जाने की तीव्र भावना उत्पन्न हुई है। अहो! आचार्यदेव ने

समयसार की प्रत्येक गाथा में अद्‌भुत रचना की है; अलौकिक भाव उतारे हैं... क्या कहा जाये! जो समझे उसी को पता चलता है।

देहरूपी पालने में चैतन्यप्रभु बालभाव से सो रहा है... प्रवचन-माता चैतन्य की लोरियाँ गा-गाकर उसे जगा रही है। लौकिक माताएँ तो बालक को सुलाने के लिये लोरियाँ गाती हैं, किन्तु यह प्रवचनमाता तो शरीर और राग को अपना स्वरूप मानकर सोते हुए बाल जीवोंको जागृत करने के लिये लोरियाँ गाती हैं कि—अरे जीव! तू जाग। जड़ से तथा राग से पृथक् होकर अपने चैतन्य के शांतरस का पान कर... शांतरस में निमग्न हो।

जिसप्रकार बीन का मधुर नाद सुनकर साँप अपने विष को भूल जाता है और बीन के नाद में एकाग्र होकर डोल उठता है; उसीप्रकार इस समयसार की वाणीरूप बीन का नाद सुनकर कौन नहीं डोल उठेगा? चैतन्य के शांतरस की ध्वनि सुनकर किस जीव का विष (-मिथ्यात्व) नहीं उतर जायेगा? कौन नहीं जाग उठेगा? सभी जाग उठेंगे और डोलने लगेंगे। अहा! आत्मा की अद्‌भुत बात सुनकर असंख्य प्रदेशों में झनझनाहट से आत्मार्थी जीव डोल उठता है और चैतन्य के शांतरस में निमग्न हो जाता है।

देखो, यह चैतन्यराजा को प्रसन्न करने की भेंट! ऐसी अंतरपरिणतिरूपी भेंट दिये बिना आत्मराजा किसी प्रकार प्रसन्न नहीं हो सकता। परिणति को अंतरोन्मुख करने पर चैतन्य के असंख्य प्रदेशों में शांतरस का समुद्र उमड़ आता है; उस शांतरस में निमग्न होने के लिये समस्त जगत के जीवों को आमंत्रण है... आओ! सब जीव आओ! मुझे ऐसा शांतरस प्रगट हुआ है... जगत का कोई जीव रह न जाये। *(- श्री समयसार कलश-३२ के प्रवचनों से)*

कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र में

प्रवचन

(फाल्गुन शुक्ला १५, वीर संवत् २४८५)

श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिवरों ने कुंथलगिरि से मोक्ष प्राप्त किया है; वे किसप्रकार मोक्ष को प्राप्त हुये हैं ? मोक्ष प्राप्त करने से पूर्व उन्होंने क्या किया ? यह बात पूज्य गुरुदेव ने इस प्रवचन में समझाई है।

यह श्री समयसार शास्त्र है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे और उन्होंने सीमंधर परमात्मा की दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण करके इस शास्त्र की रचना की है। इस समयसार के कर्ताकर्म अधिकार में भेदज्ञान की अद्भुत बात है; मोक्ष का मूल वही भेदज्ञान है।

यह जीव स्वयंसिद्ध अनादि-अनंत है; वह है, है और है। उसका स्वभाव ज्ञान और सुख है, किन्तु अनादिकाल से अपने स्वभाव को भूलकर वह चौरासी में परिभ्रमण करके दुःखी हो रहा है। आचार्य भगवान उस परिभ्रमण को दूर करने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि भाई! तू तो आत्मा है... जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही परमार्थतः तू भी है.... जो विकल्प और राग हैं, वे तो पानी में सेवार (काई) के समान हैं, वे विकल्प और राग तेरे आत्मा के शांत स्वभावभूत नहीं हैं किन्तु मलिन उपाधिभाव हैं। जिसे तृषा लगी हो और उसे शांत करना चाहता हो, वह काई को हटाकर शुद्ध जल पीता है; उसीप्रकार जो आत्मार्थी हो, जिसे आत्मा के शांतजल की तृषा लगी हो और आत्मा का अनुभव करके वह तृषा शांत करना चाहता हो, वह आत्मार्थी जीव आत्मा में से विकारी मलिनभावों को हटाकर शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावरूप से आत्मा का अनुभव करता है और इसप्रकार शुद्ध आत्मा के अनुभव द्वारा वह अपनी तृषा को शांत करता है।

आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव क्या वस्तु है—यह बात जीव ने यथार्थ रुचिपूर्वक कभी नहीं सुनी। आचार्य भगवान कहते हैं कि:—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

समस्त लोक को काम भोग (कर्तृत्व भोक्तृत्व) संबंधी, बंध की कथा श्रवण में, परिचय में, व अनुभव में भी आ गई है। भाई, तूने अनादि से विकार करने की तथा उसके उपभोग की ही रुचि की है, उसी के श्रवण में प्रेम और उत्साह बतलाया है, बारम्बार उसी का अनुभव किया है; किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी भाव से सुना है, न उसका परिचय प्राप्त किया है; विकार रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की रुचि कभी नहीं की, उसके श्रवण में प्रेम और उत्साह नहीं किया, तूने उसका अनुभव नहीं किया। एकत्वस्वरूप को समझानेवाले संतों का यथार्थ परिचय नहीं किया; इसलिये अब एकबार अंतर में शुद्ध आत्मा का उल्लास लाकर प्रेमपूर्वक यह बात सुन!

प्रश्नः—प्रभो! अनंतबार समवसरण में जाकर श्रवण किया है न?—फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हैं कि श्रवण नहीं किया?

उत्तरः—समवसरण में जाकर श्रवण किया और संतों से भी सुना, किन्तु उसे हम वास्तव में श्रवण नहीं कहते, क्योंकि सर्वज्ञों और संतों का जैसा आशय था, वैसा लक्ष में नहीं लिया; इसलिये श्रवण नहीं किया, ऐसा कहा है। इसीप्रकार अनादि निगोद के जीव कि जिन्हें कभी संसार में कर्ण इन्द्रिय की प्राप्ति ही नहीं हुई, तथापि उन्होंने भी काम-भोग-बंध की कथा अनंत बार सुनी है—ऐसा कहा है; क्योंकि शब्द न सुनने पर भी उनकी रुचि में—अभिप्राय में—अनुभव में तो उस काम-भोग-बंध की बात का ही मंथन हो रहा है। अनादिकाल से जो विपरीत रुचि थी, वैसी ही रुचि का मंथन दिव्यध्वनि सुनते समय भी होता रहा, इसलिये दिव्यध्वनि श्रवण करने का कोई फल तो नहीं मिला, उपादान में कुछ अंतर तो नहीं पड़ा; इसलिये वास्तव में उसने शुद्ध आत्मा की बात सुनी ही नहीं है—उसने भगवान की बात का श्रवण ही नहीं किया है।

भले ही समवसरण में जाये और दिव्यध्वनि सुने, किन्तु जिसकी रुचि में ही विकार भरा है, उसे शुद्ध आत्मा की सुगंध (रुचि) नहीं आती। अपनी अनादिकालीन विकार की रुचि को हटाकर शुद्ध आत्मा की रुचि प्रगट करे तो उसका अपूर्व स्वाद आये। उसका एक दृष्टान्त इसप्रकार है—दो भँवरे थे; दोनों दुर्गन्ध में रहते थे और अपनी नाक में दुर्गन्ध की गोलियाँ भरकर उनका स्वाद लेते थे; एक बार एक भँवरा उड़कर सुगन्धित गुलाब के फूल पर जा बैठा और उसकी सुगन्ध से प्रसन्न होकर अपने साथ भँवरे से कहा कि—चल भाई, गुलाब की सुगन्ध लेने चलें! आज तुझे सुन्दर गुलाब की सुगन्ध का अनुभव कराऊँ। उसका साथी भँवरा गुलाब की सुगन्ध लेने चला तो गया, किन्तु उसे वह सुगन्ध न आई, क्योंकि उसकी नाक में उस समय भी दुर्गन्ध की गोलियाँ भरी हुई

थीं। उसके साथी ने पूछा—क्यों भाई, सुगन्ध आ रही है न? तो वह भँवरा बोला कि भाई! मुझे तो पहले ही जैसी दुर्गन्ध आ रही है, कोई अंतर नहीं पड़ा! पहले भँवरे ने कुछ सोचकर कहा कि अरे भाई! तेरी नाक में जो यह दुर्गन्ध की गोलियाँ भरी हुई हैं, इन्हें निकाल दे और फिर सूँघ तो तुझे सुगन्ध का अनुभव अवश्य होगा। दूसरे भँवरे ने तुरन्त अपनी नाक में भरी हुई गोलियाँ निकाल दीं और गुलाब की सुगन्ध लेकर प्रसन्न हो उठा... उसीप्रकार अनादिकालीन विकार की रुचि को हटाकर, अपने स्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेकर ज्ञानी-धर्मात्मा अन्य भव्य जीवों से कहते हैं कि अरे जीवों! चलो अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने! इस अनादिकालीन विकार के आकुलतामय स्वाद की जगह तुम्हें अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव का अनाकुल शांतरस चखाऊँ। ज्ञानी ने जब ऐसा कहा, तब जीवों ने अंतर में विकार की रुचि रखकर श्रवण किया, इसलिये उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं आया। ज्ञानी ने उन्हें पुनः समझाया कि अरे जीवों! तुमने अपनी रुचि में विकार को पकड़ रखा है, इसलिये तुम्हें अपने अतीन्द्रिय स्वाद का अनुभव नहीं होता; इसलिये एक बार विकार की रुचि छोड़कर श्रवण करो और अंतर्मुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद का अनुभव करो। तब तुम्हें अवश्य अपने अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आयेगा।—इसप्रकार अंतर्मुख होकर अनुभव करने पर फिर जिज्ञासु जीवों को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ जाता है। यही धर्म की तथा अतीन्द्रिय आनंद के अनुभव की रीति है।

प्रभो! एकबार तो इस धर्म की रीति को लक्ष में ले। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से धर्म नहीं हो सकता। धर्मी ऐसा जो आत्मा है, उसी के आश्रय से धर्म होता है; रागादि के आधार से धर्म नहीं होता। अरे भाई! इस संसार के दुःखों से छूटने के लिये अंतर में इस बात को समझने का प्रयत्न कर। मात्र क्षणिक विकार का बल न देख; विकार के समय ही सम्पूर्ण नित्यानन्द अविकारी आनन्दस्वभाव भरा हुआ है, उसका अनुभव कर... उसका आदर कर! भाई! चिरस्थाई स्वभाव की शरण बिना बाह्य में कोई तुझे शरणभूत नहीं होगा; क्षणिक विकार की शरण लेने से तेरे भवभ्रमण का अंत नहीं हो सकता। ऐसा मत सोच कि आत्मा की बात कैसे समझ में आयेगी? तू छोटा नहीं है; तुझमें सिद्धभगवान जैसी महान प्रभुता भरी हुई है। यदि तूने अपनी प्रभुता को लक्ष में नहीं लिया तो कुछ भी नहीं किया... कुछ ऐसा अपूर्व कार्य कर जिससे भवभ्रमण का अंत आ जाये। आत्मा का चिदानन्दस्वभाव, विकार में नहीं है और विकार, आत्मा के स्वभाव में नहीं है;—ऐसे आत्मस्वभाव को लक्ष में ले। उसका लक्ष करते ही अतीन्द्रिय आनन्द के वेदनसहित उसकी प्रतीति होती है, उसी

का नाम सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा में सिद्धपद की भनक आ जाती है।

भाई! अपने अनंतकालीन दु:खों को दूर करने की यह बात है। इसे समझे बिना जगत में अन्य कहीं तुझे सुख का अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। तू अपनी कल्पना से दु:ख को सुखरूप मान ले, तो तेरा दु:ख कैसे दूर होगा? अहा, जिसमें चैतन्य के आत्मरस-अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद न आये, वह सुख कैसा? वह धर्म कैसा? चैतन्यलता में ऐसी शक्ति है कि उसमें केवलज्ञान और सिद्धपदरूपी फल उत्पन्न होते हैं। हे जीव! एक बार अंतर्मुख होकर तू अपनी उस शक्ति की प्रतीति कर। यदि तूने अपनी आत्मा की प्रतीति नहीं की तो तेरा शास्त्राभ्यास या मुनिव्रत पालन मोक्ष प्राप्ति में कार्यकारी नहीं हो सकेंगे; यह सब तो जीव अनंतबार कर चुका है, इसलिये आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को लक्ष में ले.... उसकी प्रतीति कर! उसकी प्रतीति करने से भवभ्रमण का अंत आ जाता है।

देशभूषण और कुलभूषण मुनिवर इसी कुंथलगिरि से मोक्ष पधारे हैं। मोक्षप्राप्ति से पूर्व उन्होंने अपने शुद्ध आत्मा की प्रतीति और अनुभव किया था, फिर उसमें सम्पूर्ण लीनता के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान और मोक्षपद प्राप्त हुआ। इसप्रकार मोक्ष का उपाय अंतर स्वभाव में है; उस स्वभाव की पहिचान तथा प्रतीति का प्रयत्न करना चाहिये। देखो न, इन मुनियों के धाम कैसे हैं! जब देशभूषण और कुलभूषण मुनिराज यहाँ साक्षात् विचरते होंगे, वह दृश्य कैसा होगा? मानो सिद्धलोक से सिद्ध भगवान उतर आये हों! चैतन्य में झूलते हुए वे सिद्धपद की साधना कर रहे थे और उन्हें अतीन्द्रिय निजानन्द का अनुभव हो रहा था। श्री रामचंद्रजी जैसे भी उनके समक्ष भक्तिपूर्वक नाच उठे थे। असुर देव जब उपद्रवों द्वारा उन ध्यानमग्न मुनिवरों को उपसर्ग कर रहे थे, तब श्री राम-लक्ष्मण ने उन असुरों को भगा दिया था और मुनिवरों की खूब भक्ति की थी। मुनिवरों ने केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष पधारे... ऐसे मुनिवरों का यह सिद्धिधाम है। अहा! मुनिपद क्या है, उसका लक्ष करना भी जीवों को कठिन हो गया है। चैतन्य की सम्यक् प्रतीति के पश्चात् उसमें अत्यन्त लीनता करके बारम्बार राग से पृथक् चैतन्य का निर्विकल्परूप से अनुभव करते हैं;—ऐसा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अनुभव ही मोक्ष प्राप्त करने का सच्चा तीर्थ है... ऐसे तीर्थ के स्मरण तथा भावना के लिये ही साधक को तीर्थयात्रा का भाव आता है।

पाँच करोड़ मुनिवरों के मुक्तिधाम
पावागढ़ सिद्धक्षेत्र में

पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

(पौष शुक्ला अष्टमी, वीर सं० २४८५)

दक्षिण की तीर्थयात्रा के हेतु पूज्य गुरुदेव ने सोनगढ़ से मंगल प्रस्थान किया और सर्व प्रथम श्री पावागढ़-सिद्धक्षेत्र की यात्रा हुई। पाँच करोड़ मुनिवरों का मुक्तिधाम पावागढ़... वहीं का यह प्रवचन है। साधक संतों के प्रति तीव्र भक्ति और वैराग्य की भावना तथा तीर्थयात्रा का उल्लास पूज्य गुरुदेव के इस प्रवचन में झलक रहा है। पावागढ़ सिद्धक्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करनेवाले लव-कुश कुमारों की अंतरंगदशा का वर्णन करते हुए गुरुदेव कहते हैं कि—चैतन्य के विश्वासपूर्वक दोनों राजपुत्र स्वयं अंतर में देखे हुए मार्ग पर चलते गये... अहा! देखो तो उन धर्मात्मा की दशा! पर्वत का दृश्य भी अद्भुत है!! मार्ग में जब से पावागढ़-पर्वत को देखा, तभी से लव-कुश का अनंग-लवण का जीवन दृष्टि के समक्ष तैरने लगा... और उसी के विचार आने लगे। अहा! धन्य है उनकी मुनिदशा! धन्य है उनका वैराग्य! और धन्य है उनका जीवन! संसार में जन्म लेकर उन्होंने अपना अवतार सफल कर लिया!

अनंत काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए आत्मा को शांति कैसे हो तथा वह मुक्ति कैसे प्राप्त करे, उसी की यह बात है। सिद्धपद इस आत्मा का ध्येय है। चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व क्या वस्तु है, उसे जानकर तथा उसका ध्यान कर-करके अनंत जीवों ने सिद्धपद प्राप्त किया है। उसका यथार्थ स्वीकार करने से, 'मेरे आत्मा में भी वह सिद्धपद प्रगट करने की शक्ति है'—ऐसे अपने स्वभाव की भी प्रतीति हो जाती है।

देखो भाई, जीवन में करने योग्य तो यही है कि—यह आत्मा भवसमुद्र से कैसे पार हो? जिससे भवभ्रमण के दुःखों में डूबा हुआ आत्मा तर जाये अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ले, वही उपाय कर्तव्य है। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होनेवाला जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीर्थ, उसी के द्वारा भवसमुद्र से पार हुआ जाता है। ऐसे तीर्थ की आराधना कर-करके अनंत जीव तर गये हैं और उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है। मुनिसुव्रतभगवान के तीर्थकाल में श्री रामचन्द्रजी के दो पुत्र -लव और कुशकुमार—ऐसे रत्नत्रय तीर्थ की आराधना करके इसी पावागढ़ सिद्धक्षेत्र से मोक्ष पधारे हैं।

श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाई बलदेव और वासुदेव थे। दोनों में परस्पर अपार स्नेह था। एक बार इन्द्रसभा में दोनों भाइयों के अपार स्नेह की चर्चा होने पर दो देव उनकी परीक्षा के लिये आये और लक्ष्मणजी के महल के आसपास श्री रामचन्द्रजी की मृत्यु का कृत्रिम वातावरण उत्पन्न करके लक्ष्मणजी से कहा कि—'श्रीराम का स्वर्गवास हो गया है!' यह शब्द सुनते ही लक्ष्मणजी 'हाय रा....म!' कहकर सिंहासन पर लुढ़क गये और वही उनका प्राणान्त हो गया। देखो, यह संसार की स्थिति! रामचन्द्रजी जीवित थे और उनकी मृत्यु के समाचार सुनकर लक्ष्मणजी की मृत्यु हो गई! आचार्यदेव कहते हैं कि—अहा! ऐसे क्षणभंगुर अशरण संसार में जिसका ध्यान ही एक शरण और शांतिदायक है, ऐसे परम चैतन्यतत्त्व को मैं नमन करता हूँ... चैतन्योन्मुख होकर उसके ध्यान द्वारा सर्व कर्मों को शांत किये देता हूँ।

लक्ष्मणजी के स्वर्गवास की बात सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी वहाँ आते हैं और लक्ष्मण के मृत शरीर को देखकर भी इसप्रकार वार्तालाप करते हैं मानों वे जीवित हों.... स्नेहीजन लक्ष्मणजी के शरीर का अग्नि-संस्कार करने के लिये तरह-तरह से समझाते हैं, किन्तु श्री रामचन्द्रजी किसी की बात नहीं सुनते और लक्ष्मण के मृत शरीर को कन्धे पर रखकर घूमते-फिरते हैं... उसे खिलाने-पिलाने, नहलाने, सुलाने आदि की विविध चेष्टाएँ करते हैं। यद्यपि रामचन्द्रजी को आत्मा का भान है, परन्तु अस्थिरता के मोहवश ही यह सब चेष्टाएँ होती हैं.... और इसप्रकार दिन पर दिन बीतते रहते हैं।

अपने काका की मृत्यु और पिता की यह दशा देखकर लव और कुश को संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। दोनों राजकुमार छोटी उम्र के हैं, चैतन्यतत्त्व के ज्ञाता हैं और महान वैराग्यवंत हैं। अरे, संसार की यह स्थिति! तीन खण्ड के अधिपति की ऐसी दशा!!—ऐसा विचार करते हुए दोनों कुमार दीक्षा लेने को तैयार हुए हैं। स्वर्ण की सुन्दर प्रतिमा समान दोनों कुमार पिता के निकट आज्ञा लेने आते हैं। श्री रामचन्द्रजी के कन्धे पर तो भाई का मृत शरीर पड़ा है और दोनों कुमार विनयपूर्वक नमस्कार करके वैराग्यपूर्ण स्वर में आज्ञा माँगते हैं कि—हे पिताजी! इस क्षणभंगुर असार संसार को छोड़कर अब हम दीक्षा लेना चाहते हैं... दीक्षा धारण करके हम ध्रुव चैतन्यतत्त्व का ध्यान करेंगे और उसके आनन्द में लीन होकर इसी भव में सिद्धपद प्राप्त करेंगे। इसलिये हे पिताजी! हमें दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान करो! हे तात! हमने जिनशासन के प्रताप से सिद्धपद की साधना का मार्ग देख लिया है और अब हम उसी अंतरंग मार्ग पर चलेंगे। ऐसा

कह—जिनके रोम-रोम में, प्रदेश-प्रदेश में वैराग्य की धारा उल्लसित हो रही है, ऐसे वे दोनों राजकुमार मुनिदीक्षा लेने के लिये पिता को नमन करके वन में चले जाते हैं।

धन्य है उन राजकुमारों की दशा! मार्ग में जब से यह पावागढ़ क्षेत्र दिखाई दिया तभी से उनका जीवन दृष्टि के समक्ष तैर रहा है!....उन्हीं के विचार बारम्बार आ रहे हैं। अहा, धन्य है उनकी मुनिदशा, उनका वैराग्य और उनका जीवन! जन्म लेकर उन्होंने अपना अवतार सफल किया।

जब से आत्मभान हुआ, तभी से दोनों ने अंतर में चैतन्य की मुक्ति का मार्ग निहार लिया था... और संसार में कहीं भी सुख नहीं है; हमारा सुख तथा हमारी मुक्ति का मार्ग हमारे अंतर में ही है—ऐसी प्रतीति तो पहले से ही थी... इसलिये अब उस देखे हुये मार्ग पर चैतन्यानन्द की साधना के लिये अंतरोन्मुख हुये। देखो, यहाँ बिना कुछ जाने-समझे ही दीक्षा या साधुपना मान लेने की बात नहीं है; यहाँ तो निःशंकरूप से अंतर में देखे-जाने और अनुभव किये हुए मार्ग पर मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिसका प्रयाण है, ऐसी मुनिदशा की बात है। दोनों कुमारों को दीक्षा लेने से पूर्व विश्वास है कि—अपने चैतन्यपद में दृष्टि करके अपनी मुक्ति का मार्ग हमने देख लिया है; उस चैतन्यपद में गहराई तक उतरकर—उसी में लीन लोकर हम इसी भव में अपने मोक्षपद को साधेंगे। हमारा मार्ग अप्रतिहत है, उस मार्ग में हमें किंचित् शंका नहीं है; अब हम लौटेंगे नहीं। अप्रतिहत भाव से अंतरस्वरूपोन्मुख हुए सो हुए... अब मोक्षपद लेकर ही रहेंगे!

—ऐसे भाव से दीक्षा लेकर वे दोनों मुनिवर वन में विचरते हैं और आत्मध्यान में लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते-करते केवलज्ञान के साथ केलि करते हैं।

''धन्य लव-कुश मुनि आतमहित में छोड़ा सब संसार
—कि तुमने छोड़ दिया घरबार....
राजपाट-वैभव सब छोड़ा, जाना जगत असार
—कि तुमने छोड़ दिया घरबार....''

—ऐसे वे लव-कुश मुनि ग्राम्य, वन तथा पर्वत प्रदेशों में विचरते-विचरते इस पावागढ़ क्षेत्र पर आये... 'अहा! मानों उस समय भी यहाँ विचर हों, ऐसे भावपूर्वक गुरुदेव कहते हैं कि—देखो, लव-कुश मुनिवर इस पावागढ़ क्षेत्र पर पधारे थे और इसी पर्वत पर ध्यान किया था.... ध्यान करते-करते चैतन्यरस में ऐसे निमग्न हुए कि क्षपकश्रेणी लगाई.... और .....फिर क्या हुआ ?..... कि—

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद अहीं,
भवनां बीजतणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो....

—इसी पावागढ़ पर्वत पर चैतन्य का ध्यान करते-करते वे दोनों मुनिवर केवलज्ञान प्राप्त करके.... कृतकृत्य परमात्मा हुये.... उन्हें नमस्कार हो!

केवलज्ञान होने के पश्चात् अल्पकाल में उन्होंने यहीं से मोक्ष प्राप्त किया... उन्हीं का यह सिद्धिधाम है... कल हमें उसकी यात्रा करना है। हम सबको दक्षिण भारत में पहुँचकर बाहुबलि भगवान की यात्रा करना है, वहाँ बीच-बीच में ऐसे अनेक तीर्थ आयेंगे। यह तो अभी प्रथम क्षेत्र है।

मणि-रत्न की प्रतिमा समान राजकुमारों ने वैराग्य प्राप्त करके मुनिदीक्षा ली और 'पवित्रधाम' में जाकर... कौन-सा पवित्र धाम?—कि निर्मल चैतन्यस्वभावरूप पवित्र धाम; उसमें जाकर... अंतर गहराई में उतरकर इस एकांत शांतिधाम पावागढ़ क्षेत्र में उन्होंने आत्मा की परमात्मदशा की साधना की है। तदुपरान्त लाड देश के नरेश और ५,००,००००० (पाँच करोड़) मुनिवरों ने यहाँ से सिद्धपद प्राप्त लिया है।

लवांकुश और मदानांकुश (लव और कुश) यह दोनों राम-सीता के पुत्र थे... दोनों चरमशरीरीर थे.... दोनों ने एक साथ जन्म लिया था..... एक साथ दीक्षा धारण की थी... और एक ही साथ यही से मोक्ष प्राप्त किया था। एकबार उन्होंने युद्ध में राम-लक्ष्मण को भी थका दिया था... दोनों को चैतन्य का भान था और चैतन्य के परमानन्द का मार्ग उन्होंने अंतर में देखा था... अंतर में देख हुए मार्ग पर चलकर वे यहाँ से सिद्ध परमात्मा हुए। प्रातःकाल से उन लव-कुश को स्मरण करते-करते यहाँ आये हैं... इस पावागढ़ सिद्धक्षेत्र की यात्रा जीवन में पहली बार कर रहे हैं... यह पवित्र क्षेत्र है... मार्ग में दूर-दूर से इस पर्वत को देखकर लव-कुश को याद करते आये हैं। अंतर के चिदानन्दस्वरूप परमात्मा में लीन होकर उन्होंने अपनी आत्मशांति की साधना की। यहाँ भी मंगलरूप से ऐसे चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को नमस्कार करने की बात आई है:—

चिदानन्दैक सद्भावं परमात्मानमव्ययं।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम्॥४॥ (—पद्मनन्दि-एकत्व अधिकार)

ज्ञान और आनन्दरूप जिसका अस्तित्व है, ऐसा जो अविनाशी परम आत्मस्वभाव, उसे मैं

नमन करता हूँ—उसका आदर करके उस ओर झुकता हूँ; क्योंकि सदा शांत ऐसा आत्मस्वभाव सर्व कर्मों की शांति का कारण है; इसलिये सर्व कर्मों को शांत करने के लिये मैं अपने परम शांत आत्मस्वरूप को नमस्कार करता हूँ। देखो, इसप्रकार अपने आत्मस्वरूप को जानकर, उसका आदर करके, उस ओर उन्मुख होना—नमित होना, सो अपूर्व मंगल है; वही मोक्ष के ओर की अपूर्व यात्रा है।

'जिसमें ठूँस-ठूँसकर आनन्द भरा है, ऐसा हमारा चिदानंदस्वभाव है'—ऐसी प्रतीतिपूर्वक लव-कुशकुमार, रामचन्द्रजी से कहते हैं कि—हे तात! हमें आज्ञा दो... अब हम अपने चिदानन्दस्वरूप में निमग्न हो जाना चाहते हैं... इस संसार में बाह्य भाव अनंत काल तक किये; अब इस संसार को हम स्वप्न में भी नहीं चाहते... अब तो मुनि होकर हम अपनी पूर्ण अतीन्द्रिय परम आनन्ददशा की साधना करेंगे। पिताजी! इस जीव ने संसार भ्रमण में अनंत बार चारों गति के अवतार धारण किये हैं, किन्तु एकमात्र सिद्धपद कभी प्राप्त नहीं किया। अब हम तो अपने चिदानन्दस्वभाव में डूबकर अभूतपूर्व ऐसा सिद्धपद प्राप्त करेंगे।

पुण्ये पामे स्वर्गपद, पापे नरकनिवास;
बे तजी जाणे आत्मने, ते पामे शिववास।

लव-कुशकुमार कहते हैं कि—पुण्य और पाप दोनों से भिन्न अपने अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को हमने जाना है, और अब उसमें लीन होकर हम अपने शिवपद की साधना करेंगे। अब हम संसार से (—पाप और पुण्य दोनों से) विरक्त होकर अपने चैतन्यस्वरूप में समा जायेंगे। रामचन्द्रजी धर्मात्मा होने पर भी बंधुप्रेम के मोह से लक्ष्मण का मृत शरीर कंधे पर रखकर घूम रहे हैं, जिसे देखकर दोनों पुत्र वैराग्य को प्राप्त होते हैं.... अरे, संसार की यह स्थिति! आत्मा का भान होने पर भी चारित्रदोष के कारण यह दशा! अरे, शरीर की यह लक्षणभंगुरता!—उसका विश्वास क्या? संध्या के डूबते हुये रंगों जैसा यह संसार! उसे छोड़कर अब हम अपने जाने हुए अंतर के मार्ग पर जायेंगे।

—इसप्रकार वैराग्य से पिता की आज्ञा लेकर दोनों कुमार महेन्द्र-उद्यान में गये और अमृतेश्वर मुनिराज के संघ में दीक्षा ली, फिर आत्मध्यानपूर्वक विचरते हुए यहाँ पावागढ़ पर्वत पर आये और ध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद प्राप्त किया। इसप्रकार शुद्धरत्नत्रयरूप जो परमार्थ तीर्थ, उसके द्वारा संसार से पार होकर यहाँ से उन्होंने सिद्धपद प्राप्त

किया, इसलिये यह क्षेत्र भी व्यवहार से तीर्थ है। निश्चय तीर्थ जो शुद्ध रत्नत्रय, उसके स्मरणार्थ तथा बहुमानार्थ यह तीर्थयात्रा है। यात्रा का ऐसा भाव ज्ञानी-धर्मात्मा को (मुनिवरों को भी) आता है, और उस भाव की मर्यादा कितनी है, वह भी वे जानते हैं।

अहा, सबेरे इस पावागढ़ सिद्धक्षेत्र पर आये, तभी से लव-कुश की याद आ रही है... उनका जीवन मानो दृष्टि के समक्ष ही तैर रहा है... दोनों रामपुत्र विवाहित थे; फिर भी अंतर में भान था कि अरे! इस क्षणभंगुर संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी? कौन पुत्र और कौन माता? पुत्र को माता ने गोद में लिया, उसके पूर्व तो अनित्यता ने उसे अपनी गोद में ले लिया है। माता, पुत्र को गोद में लेकर उसका मुँह देखे, उससे पूर्व ही अनित्यता उसे पकड़ लेती है। प्रतिक्षण उसकी आयु कम होने लगती है।—ऐसा है यह अनित्य संसार! संयोगों की स्थिति ही ऐसी है; उसमें कहीं शरण नहीं है; माता की गोद भी अशरण है; वहाँ दूसरे की क्या बात!—हम तो अब अपने नित्य चिदानन्दस्वभाव की गोद में जायेंगे... वही हमारे लिये शरणभूत है तथा उसी में हमारा विश्वास है। जहाँ हमारा विश्वास है, वहीं हम जायेंगे। अनित्य संयोगों का विश्वास हमें नहीं है, इसलिये उनमें हम नहीं रहेंगे... संयोगों के ओर की वृत्ति छोड़कर हम असंयोगी स्वभाव में स्थिर होंगे... हमें नि:शंक विश्वास है कि—स्वभाव में ही हमारा सुख है और संयोग में सुख नहीं है। अनादि से हमारे साथ रहनेवाला ऐसा जो हमारा नित्य चिदानन्दस्वभाव, उसी का विश्वास करके अब हम उसी के पास जायेंगे... संयोग से दूर और स्वभाव के निकट...! उस स्वभाव का मार्ग हमने देखा है... उसी परिचित मार्ग पर चलकर हम मुक्ति सुन्दरी का वरण करेंगे।

देखो, यह नि:शंकता! धर्मात्मा को अंतर में यह नि:शंक प्रतीति होती है कि—हमने मार्ग देखा है... और उसी मार्ग पर चल रहे हैं। 'यही मार्ग होगा या दूसरा? आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ होगा या नहीं?'—ऐसा कोई सन्देह धर्मी को नहीं होता। हमने अपने स्वानुभव से मार्ग देखा और उसी परिचित मार्ग पर हमारा आत्मा चल रहा है—ऐसी नि:शंक दृढ़ता धर्मात्मा को होती है। ऐसे नि:शंक निर्णयपूर्वक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर चैतन्य में लीन हुए और केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपुर में पहुँचे। इस पावागढ़ क्षेत्र के जिस स्थान से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, उसी के ठीक ऊपर वे इस समय सिद्ध भगवान के रूप में विराज रहे हैं... ऊपर अनंत सिद्धभगवन्तों का समूह बैठा है। उन सिद्धों का स्मरण-बहुमान करने में यह सिद्धक्षेत्र निमित्त है।

लव-कुशकुमार, लाड़ देश के नरेन्द्र और पाँच करोड़ मुनिवरों ने यहीं से मोक्ष प्राप्त किया

और इस समय लोकाग्र में विराजमान हैं; ऐसे सिद्ध भगवान को यथार्थरूप से जान ले तो संसार का विश्वास उड़ जाये और सिद्धभगवान जैसे चिदानन्दस्वभाव का विश्वास हो तथा सिद्धि का पंथ मिल जाये.... इसका नाम तीर्थयात्रा! ऐसी तीर्थयात्रा करनेवाला जीव, संसार से पार हुए बिना नहीं रहता।

लव-कुश आदि भगवंत यहाँ से मुक्तिनगर में पहुँचे.... मुक्तिनगर में कहीं गढ़ या बंगले आदि नहीं हैं, किन्तु चैतन्य का पूर्णानन्द स्वभाव विकसित हो गया है, उसी का नाम मुक्तिनगर है। वहाँ वे इन्द्रिय विषयों से पार अतीन्द्रिय स्वभाव सुख का निरंतर अनुभव करते हैं।

चैतन्यस्वभाव को प्राप्त परमात्मा दुनिया के जीवों को दर्शाते हैं कि—अरे जीवों! तुम भी हमारे जैसे परमात्मा हो; तुम में हम जैसी ही पूर्ण ज्ञान और आनन्द की शक्ति भरी है; उसका विश्वास करो... और उसी में अंतर्मुख होओ... उसी में तुम्हारा सुख है। बाह्य इन्द्रिय विषयों में या बाह्य वृत्ति में कहीं भी तुम्हारा सुख नहीं है।

संत परम करुणापूर्वक सर्वज्ञ भगवान का संदेश जगत के जीवों को सुनाते हैं कि... अरे जीवों! अपने चिदानन्द तत्त्व को पहिचान कर उसमें स्थिर हो। अरे... यही मुख्य कर्तव्य है... अन्य सब कुछ तो अनादि से करते आये हो, उसमें कहीं हित नहीं है। अनंत काल में जो पहले कभी नहीं किया, और जिससे अपूर्व हित हो, ऐसा मुख्य कर्तव्य तो यही है कि ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को पहिचानो। जगत की अन्य सर्व वस्तुओं का माहात्म्य छोड़कर तथा चैतन्यस्वभाव की महिमा को भलीभाँति समझकर उस ओर ढलना ही परमात्मा को सच्चा नमस्कार है, वही रत्नत्रय तीर्थ की सच्ची यात्रा है तथा वही सिद्धि का पंथ है।

मुनिराज कहते हैं कि हमारा चिदानन्दतत्त्व शांति और आनन्द से परिपूर्ण है; बाह्य पुण्य के ठाठबाट में कहीं भी हमारी शांति या आनन्द नहीं है; इसलिये हम तो अब अपने चैतन्य में ही झुकते हैं, उसी ओर हमारी परिणति झुक रही है। हम सदा चिदानन्दस्वभाव को ही नमन करते हैं; चिदानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की महिमा या माहात्म्य हमारे अंतर में नहीं है.... **अंतर के चिदानन्दस्वभाव में ढलकर उसके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ही हम लेते हैं; यही अपने परमतत्त्व को नमस्कार है। अंतर्मुख परिणति द्वारा ही परमात्मतत्त्व को सच्चा नमन होता है; बहिर्मुख परिणति द्वारा नहीं होता।**

श्री मुनिराज कहते हैं कि—'परमात्मानं प्रणमामि सदा....' मैं सदा परमात्मतत्त्व को नमन करता हूँ। पूर्व अनंत काल में जिसकी प्रतीति नहीं की, ऐसा हमारा चैतन्यस्वभाव है, उसे लक्ष में

लेकर—उसमें उतरकर हम अपने चिदानन्दस्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द का ही स्वाद लेते हैं, इसके अतिरिक्त जगत के किसी पदार्थ में हमें अपना स्वाद भासित नहीं होता। हम राग या संयोग में नहीं किन्तु उससे हटकर अपने चैतन्य में ही स्थित हैं। हम राग और चैतन्य में नहीं हैं, और तुम हमें मानोगे तो तुम्हारी मान्यता की भूल होगी। हम तो अपने चैतन्य में ही हैं। चैतन्य का धर्म चैतन्य स्वरूप के प्रवाह में ही पैदा होता है; राग या संयोग के प्रवाह में चैतन्य का धर्म पैदा नहीं होता।—ऐसी प्रतीति-पूर्वक चैतन्य के आश्रय से लव-कुश मुनिवरों ने मोक्ष दशा प्राप्त की।

देखो, इसमें सम्यग्दर्शन प्रगट करने तथा मोक्षमार्ग होने की बात है। लव—कुश के आत्माओं ने किस प्रकार सिद्धपद प्राप्त किया—वह बात भी इसमें आ जाती है। यही मुक्ति का मार्ग, यही सच्चा मंगल तथा यही भव्य जीवों को शरणभूत है।

धर्मात्मा मुनिवरों को अपना एक चिदानन्दस्वभाव ही प्यारा है; और जो वस्तु स्वयं को प्रिय लगती है, उसी के लिये जगत को आमंत्रित करते हैं कि हे जीवों! तुम भी ऐसे चिदानन्दस्वरूपी हो; तुम भी उसी का आश्रय करके अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करो!

जिसप्रकार तीर्थ में संघ को भोज देते हैं अथवा विवाहादि कार्यों में प्रीतिभोज दिया जाता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्ष को साधते-साधते मोक्षमार्गी संत जगत को अतीन्द्रिय आनन्द का भोज देते हैं... मोक्ष के मण्डप में सारे जगत को आमंत्रित करते हैं कि हे जीवों! आओ... आओ...! तुम भी हमारी भाँति आत्मोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करो... उसका स्वाद लो!

आज यात्रा का प्रथम दिवस है... सोनगढ़ से निकलने के बाद पहली यात्रा इस पावागढ़ सिद्धक्षेत्र की हुई है। यहाँ लव-कुश मुनिवरों का स्मरण करके यह बतलाया है कि उन्होंने किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया। उस मार्ग को समझकर अंतरोन्मुख होना, सो सिद्ध भगवंतों को भाव-नमस्कार है; वहीं सिद्धिधाम की निश्चय-यात्रा है। और जहाँ से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया हो, ऐसे सिद्ध क्षेत्रों की यात्रा-वंदना का भाव, सो द्रव्य-नमस्कार है; वह व्यवहार-यात्रा है। ऐसी निश्चय-व्यवहार की संधि साधक के भाव में होती है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

(अंक १८७ से आगे)

बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्मा क्या चाहता है, वह अब कहते हैं:—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥४२॥

अज्ञानी को शरीर में ही आत्मबुद्धि होने से वह अच्छे शरीर और स्वर्ग के विषयभोगों ही की वांछा करता है और ज्ञानी तो शरीर से तथा विषयों से छूटना चाहता है; बाह्य विषयों से छूटकर अंतर के चैतन्यस्वभाव में ही स्थिर होना चाहता है।

जिसे शुभराग की भावना है, उसे उस राग के फलरूप स्वर्ग के भोगों की और शरीर की ही अभिलाषा है; जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है, उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय दिव्य शक्तिवान है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव, दिव्य शरीर की तथा इन्द्रिय विषयों की ही वांछा करता है। ज्ञानी तो रागादि की वृत्तियों को दु:खदायी जानकर उनसे छूटना चाहते हैं।

शुभराग तो भोग का हेतु है; जो जीव, शुभराग को धर्म मानकर श्रद्धा करता है—आदर करता है, वह भोगहेतु धर्म की ही श्रद्धा करता है, किन्तु मोक्ष के हेतुरूप धर्म को वह नहीं जानता। समयसार में आचार्य भगवान कहते हैं कि—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगनिमित्तं ण दु सो कम्मक्खय णिमित्तं॥२७५॥

रागरहित ज्ञान चेतनामात्र जो परमार्थ धर्म, उसकी तो अज्ञानी जीव श्रद्धा नहीं करता, किन्तु

भोग के निमित्तरूप ऐसे शुभकर्म को ही धर्म मानकर उसकी श्रद्धा करता है; इसलिये सचमुच वह मोक्ष के कारणरूप धर्म को वह नहीं किन्तु स्वर्गादि के भोग के कारणरूप ऐसे राग की ही आराधना करता है। तथा जो धर्मात्मा है, वह तो राग में या राग के फलरूप विषयों में कहीं स्वप्न में भी सुख नहीं मानता; राग से पार ऐसे चिदानन्द स्वभाव की ही वह आराधना करता है; इसलिये राग और राग के फलरूप विषयों से तो दूर होकर वह चैतन्य स्वभाव में एकाग्र होना चाहता है। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त जगत् में कोई भी उसे प्रिय नहीं है। स्वर्ग के दिव्य भोगों को भी वह पुद्गल की रचना जानता है। चैतन्य के अचिंत्य आनन्द के समक्ष वह सबको तुच्छ समझता है अंतर्मुख होकर वह अपने ध्येय को सिद्ध करता है।

❀ ❀ ❀

[अषाढ़ कृष्णा १४, वीर संवत् २४८२]

यह आत्मा शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय चैतन्यमूर्ति है। वह अंतर का विषय है और उसी में सुख है। जिसने ऐसे अंतर के विषय को नहीं जाना, उसे विषयों में आत्मबुद्धि हुई। यह शरीर ही आत्मा है, इन्द्रिय के विषयों में सुख है-ऐसी मिथ्याबुद्धि हुई; वह जीव उत्तम शरीर की तथा स्वर्गादि भोगों की ही वांछा करता है। जो स्पष्टत: विषयभोगों की इच्छा करता है, उसे तो पाप है, उसे कहीं उत्तम स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। अज्ञानी द्रव्यलिंगी होकर व्रत-तप करता है, उसे प्रत्यक्षरूप से तो विषयों की अभिलाषा नहीं है, किन्तु उसके अभिप्राय में चैतन्योन्मुखता न होकर राग की ओर का ही झुकाव है, राग की ही भावना है, इसलिये उस राग के फलरूप विषयों की भावना भी उसके अभिप्राय में विद्यमान ही है। राग की भावनारूप मिथ्यात्व में अनंत विषयभोगों की जड़ जमी हुई है, इसलिये अज्ञानी जिन व्रतादि का सेवन करता है, वे भोग-हेतु ही हैं—ऐसा कहा है।

ज्ञानी तो अतीन्द्रिय चैतन्यतत्त्व की ही भावना करता है। शुभ-अशुभ हो भले, किन्तु उसे उसकी भावना नहीं है; और जहाँ राग की भावना नहीं है, वहाँ राग के फलरूप विषयों की भावना कैसे होगी ? वीतरागी चैतन्यतत्त्व को जाने बिना राग की भावना दूर नहीं होती। और जहाँ राग की भावना दूर नहीं हुई है, वहाँ राग के फलरूप विषयों की भावना भी विद्यमान ही है।

मेरा आत्मा ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, बाह्य विषयों के बिना ही मेरे आत्मा में आनन्द है—इसप्रकार जिसे अतीन्द्रिय आत्मा का स्पर्श-रुचि-अनुभव नहीं है, उस जीव को इन्द्रिय-

विषयों का ही स्पर्श-रुचि-अनुभव है। देखो, इस अंतर-वेदन के आधार से ज्ञानी और अज्ञानी का माप निकाला है। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन नहीं है, उसे ही इन्द्रिय-विषयों का ही वेदन है। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है उसी को इन्द्रिय-विषयों की रुचि छूट गई है। एक ओर अतीन्द्रिय आत्मा का विषय और दूसरी ओर इन्द्रियों के विषय—उन दोनों की रुचि एकसाथ नहीं हो सकती। जिसे एक की रुचि है, उसे दूसरी की रुचि नहीं है। राग का फल अतीन्द्रिय आनन्द नहीं किन्तु इन्द्रियों के विषय ही हैं; इसलिये जिसे राग की रुचि है, उसे इन्द्रिय-विषयों की ही रुचि है; उसे अतीन्द्रिय आत्मा की रुचि नहीं है।

भगवान के कहे हुए व्रत-तप का पालन करने पर भी अज्ञानी की मुक्ति क्यों नहीं होती ? —उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अज्ञानी जीव राग की और राग के फलरूप भोग की ही रुचि से व्रतादि करता है; इसलिये वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता; उसे राग से पार तथा इन्द्रिय-विषयों से पार चिदानन्दस्वभाव की रुचि-प्रतीति-श्रद्धा नहीं है; वह राग की ही अनुभूति करता है, रागरहित आत्मस्वभाव की अनुभूति उसे नहीं होती; इसलिये कर्मक्षय भी नहीं होता।

ज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव की भावना द्वारा राग से छूटना चाहता है तथा देहादि विषयों से भी छूटना चाहता है। चैतन्य के आनन्द की अनुभूति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों राग और विषय छूटते जाते हैं। जिसे राग में और शरीर में आत्मबुद्धि हो, उसे राग से या शरीर से छूटने की सच्ची भावना कहाँ से होगी ? चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द की अस्ति बिना इन्द्रिय-विषयों की नास्ति कहाँ से होगी ?

कषाय की मन्दता करके, शुभराग से कुछ व्रत-तप करने पर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मैंने बहुत-बहुत किया... ! पंच महाव्रत का पालन करे तो अज्ञानी को ऐसी प्रतीति होती है कि मैंने मोक्षमार्ग का खूब सेवन किया... मैं धर्म में बहुत आगे निकल गया। परन्तु सचमुच वह मोक्षमार्ग में आया ही नहीं है, संसार मार्ग में ही खड़ा है। और कोई ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थदशा में हो, तथापि उसे अंतर में विषयों से और राग से पार चैतन्यतत्त्व के आनन्द की अनुभूति हो गई है; उसे व्रत-तप न होने पर भी, अंतर में अपूर्व दृष्टि के बल से अनंत संसार को काट दिया है और मोक्ष के आराधक हो गये हैं। वहाँ अज्ञानी उनकी अपूर्व अंतर्दृष्टि की अचिन्त्य महिमा को तो नहीं जानता और मूढ़ता से ऐसा मानता है कि—इनके कोई व्रत-तप तो हैं नहीं और हम व्रत-तप का पालन करते हैं, इसलिये हम तो इनसे बहुत आगे बढ़ गये हैं !—ऐसे मूढ़ जीव से यहाँ श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि अरे

मूढ़ अज्ञानी ! तेरे व्रत-तप तो संसार का ही कारण हैं; तुझे चैतन्य का तो भान नहीं है और विषयों की भावना नहीं छूटी है; इसलिये तेरा संसार जरा भी कम नहीं हुआ है। और धर्मात्मा को अंतर में चैतन्य भावना से कारण अनंत संसार छूट गया है। व्रत-तप करने पर भी तू तो संसारमार्गी है और उस धर्मात्मा को व्रत-तप न होने पर भी वह मोक्षमार्गी है; तथापि उसे अपने से नीचा मानकर और अपने को उससे उच्च मानकर तू मोक्षमार्ग की महान विराधना कर रहा है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त बाह्य विषय क्लेशदायक मालूम होते हैं; बाह्य विषयों की ओर वृत्ति का जाना, वह दुःख है और चैतन्य में एकाग्रता रहे, वह सुख है। अज्ञानी को बाह्य विषयों की अनुकूलता में सुखानुभव होता है, इसलिये व्रत-तप उसे क्लेशदायक-भाररूप लगते हैं। अधिक उपवास हों, तो वहाँ अधिक क्लेश का अनुभव होता है जबकि ज्ञानी मुनियों को आत्मा के आनन्द की लीनतापूर्वक आहारादि की इच्छा टूट जाने पर सहज ही अनेक उपवासादि तप हो जाता है। ज्ञानी को आत्मानन्द के अतिरिक्त किन्हीं बाह्य विषयों में सुखबुद्धि नहीं है, इसलिये उनकी भावना भी नहीं है। अज्ञानी को आत्मा के आनन्द का भान न होने से बाह्य विषयों में ही सुखबुद्धि वर्तती है और उन्हीं की भावना बनी रहती है।—इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की अंतरभावना में आकाश-पाताल का अंतर है ॥४२॥

बंधन से छूटने का उपाय बतलाकर

आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञास तृप्त करते हैं

[श्री समयसार गाथा ६९ से ७२ के प्रवचनों का सार]

(अंक १८७ से आगे)

महाविदेहक्षेत्र में आठ-आठ वर्ष की बालिकाएँ और राजकुमार ऐसी आत्म प्रतीति कर रहे हैं।—कैसी प्रतीति ?—कि गणधर भगवान जैसी। वाह! आठ वर्ष का बालक हो... अभी बचपन के खेल खेलता हो... किन्तु अंतर में गणधर के समान विवेक वर्तता हो तो... धन्य वह दशा!—ऐसी दशा कैसे प्रगट हो—उसका यह वर्णन है।

(१२२) ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध होता है—ऐसा आचार्यदेव ने कहा; वह ज्ञान कैसा है ?—तो कहते हैं कि क्रोधादि आस्रवों से निवर्तित है; क्योंकि यदि उससे निवृत्त न हो तो उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई है। इसलिये क्रोधादि आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है, ऐसे ज्ञान से ही बंधन रुकता है। शास्त्र पढ़कर या सुनकर मात्र धारणा कर ले, किन्तु अंतरस्वभावोन्मुख होकर क्रोधादि से भिन्न परिणमित न हो तो ऐसे ज्ञान से (ज्ञातृत्व से) कहीं बंधन नहीं रुकता; सचमुच वह ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान है।

(१२३) आत्मा के स्वभाव की पहिचान-प्रतीति-अनुभव करके जो क्रोधादि भावों से पृथक् नहीं होता, विमुख नहीं होता, भेद नहीं करता, उसे भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं होती। पहले की भाँति क्रोधादि में ही एकाकाररूप से वर्तता रहे तो उस ज्ञान को भेदज्ञान कौन कहेगा ?

(१२४) कोई कहे कि—पहले भेदज्ञान होने के बाद फिर क्रोधादि से निवृत्ति होती है—तो यह ठीक नहीं है। जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वह क्रोधादि से निवर्तन होने पर ही प्रगट होता है, इसलिये जब सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उसी समय क्रोधादि से निवृत्ति होती है।—इसप्रकार भेदज्ञान तथा क्रोधादि से निवृत्ति—दोनों का एक ही काल है।

(१२५) कोई कहे कि—हमें भेदज्ञान तो हो गया है, किन्तु अभी क्रोधादि से भिन्नता भासित नहीं हुई तो उसकी बात मिथ्या है, उसे भेदज्ञान हुआ ही नहीं है।

कोई दूसरा यह कहे कि—हमें क्रोधादि से आत्मा के भिन्नत्व का भास तो हो गया है किन्तु

अभी भेदज्ञान नहीं हुआ, तो उसकी बात भी मिथ्या है; उसे वास्तव में क्रोधादि से आत्मा की भिन्नता भासित नहीं हुई है।

(१२६) जो भेदज्ञान है, वह क्रोधादि से निवृत्ति के साथ अविनाभावी है। जहाँ एक हो, वहाँ दूसरा न हो, ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञान में क्रोधादि के साथ भिन्नता की (भेदज्ञान की) 'अस्ति' हुई, वहाँ क्रोधादि के साथ एकता की 'नास्ति' अवश्य होती ही है।—ऐसी अस्ति-नास्ति के बिना भेदज्ञान की सिद्धि होती ही नहीं।

(१२७) अज्ञानदशा के समय उपयोग रागादि में एकाकाररूप से वर्त रहा था, भेदज्ञान द्वारा उनसे हटकर अपने स्वभाव में एकाकार हुआ; फिर वह उपयोग रागादि में भी एकाकार रहे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। एक ही उपयोग की एकता स्वभाव और राग दोनों के साथ कभी नहीं रह सकती। स्वभाव के साथ एकता होने पर राग से भिन्नता हो जाती है; यदि राग से भिन्नता न हो तो स्वभाव के साथ एकता नहीं होती।—इसप्रकार जो भेदज्ञान है, वह नियमपूर्वक रागादि से निवृत्त है और जहाँ रागादि से निवृत्ति है, वहाँ बंधन भी नहीं होता। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि ज्ञानमात्र से बंधन रुक जाता है।

(१२८) देखो भाई, यह जो कहा गया, वही बंधन से छूटने का मार्ग है, यही मोक्ष का सच्चा पंथ है। सत्य के पंथ पर सत्य मिलता है, किन्तु असत्य के पंथ पर सत्य की प्राप्ति नहीं होती। यह कहीं केवलज्ञान होने के समय की बात नहीं है किन्तु अभी जिसने धर्म का प्रारम्भ किया है, ऐसे अव्रती-सम्यग्दृष्टि की यह बात है; गृहस्थदशा में रहते हुए भी कैसा ज्ञान करने से धर्म का प्रारम्भ होता है, उसकी यह बात है। जीवों ने अनादिकाल से पराङ्मुख दृष्टि रखकर शास्त्राभ्यास तथा व्रत-तपादि सबकुछ किया; अरे! अनंत बार दिगम्बर मुनि हुआ, जंगल में रहा और एकान्तवास किया, तथापि राग से किंचित् पृथक् नहीं हुआ; राग में ही प्रवर्तन करके ऐसा माना कि इससे मेरा मोक्ष हो जायेगा, यह मैं मोक्ष का ही उपाय कर रहा हूँ।—ऐसी विपरीत मान्यता के कारण राग से पृथक् होकर स्वभाव में नहीं आया, इसलिये उसका किंचित् कल्याण नहीं हुआ, बंधन से जरा भी नहीं छूटा। बंधन से छूटने तथा मोक्षदशा प्राप्त करने की जो रीति है, उसे समझे, माने और तदनुसार वर्तन करे तो मोक्षदशा प्रगट हो।

(१२९) यह बात ऐसी नहीं है कि न हो सके। यह बात अपूर्व होने पर भी जो सुपात्र होकर करना चाहे, उससे अवश्य हो सकती है। एक भी व्रत-प्रत्याख्यान न हो, तथापि आत्मा की प्रतीति

–ज्ञान–अनुभव हो सकता है। कैसी प्रतीति?—कि जैसी गणधरों, केवलज्ञानियों तथा सिद्ध भगवंतों को होती है। ऐसी प्रतीति स्त्री–पुरुष सभी को हो सकती है, अरे! आठ वर्ष की बालिका भी ऐसी प्रतीति कर सकती है। इस समय महाविदेहक्षेत्र में आठ–आठ वर्ष की बालिकाएँ तथा आठ–आठ वर्ष के राजकुमार भी ऐसी आत्मप्रतीति कर रहे हैं। वाह! आठ वर्ष का बालक हो... अभी तो बचपन के खेल खेल रहा हो... किन्तु अंतर में देखो तो आत्मा में गणधर के समान विवेक वर्तता है।—ऐसे सम्यग्दृष्टि की स्तुति करते हुए कविवर पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि—

जाके घट प्रगट विवेक गणधर को सो,
हिरदे हरख महा मोह को हरतु है,
सांचा सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपु ही में आपनो स्वभाव ले धरतु है।
जैसे जल कर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलछन करतु है,
आतमशक्ति साधे ज्ञान को उदौ आराधे,
सोई समकिती भव सागर तरतु है।

देखो, यह भेदज्ञानी की महिमा! भेदज्ञानी जीव ज्ञानसागर में निमग्न होता हुआ भवसागर को पार कर लेता है।

(१३०) अज्ञानदशा में चैतन्य को भूलकर जैसे राग–द्वेष करता था, वैसे ही ज्ञानदशा होने पर नहीं होते, बहुत अंतर पड़ जाता है, आसक्ति बहुत कम हो जाती है। कोई कहे कि अपने को सम्यग्ज्ञान हुआ, तो उसकी प्रतीति स्वयं को कैसे होगी?—अवश्य होगी। जिसप्रकार निर्धन को धन मिलने से उसे प्रतीति होती है कि अब मैं धनवान हुआ, क्षुधातुर को भोजन प्राप्त होने पर प्रतीति होती है कि अब मेरी क्षुधा शांत हुई, तृषित को पानी लिने पर उसे प्रतीति होती है कि अब मेरी तृषा शांत हुई; उसमें किसी से पूछना नहीं पड़ता; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान होने पर अपूर्व आत्मशांति का वेदन होता है, उसकी स्वयं को अवश्य प्रतीति होती है कि अब मेरी आकुलता शांत हुई; मुझे निराकुल स्वाभाविक शांति का वेदन हुआ; मेरे ज्ञान की दिशा बदल गई है। सम्यग्ज्ञान तथा शांति का वेदन तो अपने घर की वस्तु है, इसलिये वह अपने से छिपी नहीं रह सकती।

(१३१) भेदज्ञान होने पर जीव को चैतन्यस्वभाव तो अपना परममित्र भासित होता है और

क्रोधादि आस्रव शत्रु समान लगते हैं। जिसप्रकार सज्जन और दुर्जन—दोनों की खबर पड़ते ही सत्पुरुषों के हृदय में सज्जनों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है और दुर्जनों से सम्बन्ध तोड़ देते हैं। उसीप्रकार सत्स्वभावी आत्मा और विपरीत स्वभावी आस्रव—इन दोनों की भिन्नता का भान होते ही धर्मात्मा सत्पुरुष आत्मस्वभाव के प्रति उन्मुख होकर आस्रवों के साथ का सम्बन्ध तोड़ देते हैं।

(१३२) अल्प रागादि होते हों, उन्हें ज्ञान में रागादिरूप से जान लेना, वह तो ज्ञान का कार्य है, किन्तु रागादि को हितरूप जानकर उन्हीं में वर्तन करना, वह अज्ञान का कार्य है।—इसप्रकार दोनों में महान अंतर है। एक तो राग को रागरूप जानकर छोड़ता है और दूसरा उसे अपना मानकर पकड़ता है। जिसप्रकार सर्प को सर्प समझकर पकड़े तथा रस्सी को सर्प समझकर पकड़े तो उन दोनों में अंतर है। जो सर्प को रस्सी मानकर पकड़ता है, वह उससे बचने का उपाय नहीं रखता। पालने में सोते हुए बालक के ऊपर सर्प फन उठाकर डोलता हो, और कोई देख ले कि—अरे, साँप!—तो उसे इसप्रकार होशियारी से मुँह दबाकर पकड़ते हैं कि काट न सके, और हाथ पर भी लिपट न जाये। उसीप्रकार राग को आस्रव के रूप में न जाननेवाला जीव, उसे आत्मा से भिन्न न जानता हुआ उसी में वर्तता है; इसलिये वह तो आस्रवों के दंश से अपने आत्मा की रक्षा नहीं कर पाता; किन्तु मैं तो ज्ञातादृष्टा आत्मा हूँ, यह जो क्रोधादि हैं, सो मैं नहीं हूँ—ऐसे भेदज्ञान द्वारा जहाँ क्रोधादि को क्रोधादि के रूप में जान लिया, वहाँ धर्मात्मा अपने ज्ञान की चतुराई द्वारा उन क्रोधादि को अपने से दूर ही दूर रखता है, इसलिये वे क्रोधादि भाव उसकी सम्यग्श्रद्धा या सम्यग्ज्ञान पर लिपट नहीं पाते; क्रोधादि के समय भी उसके श्रद्धा-ज्ञानादि जागृत ही रहते हैं और वे क्रोधादि को आत्मस्वरूप में प्रवेश नहीं करने देते। इसप्रकार वे उनसे आत्मा की रक्षा करते हैं। अज्ञानी के तो मिथ्याबुद्धिपूर्वक राग-द्वेष होने से वे उसके श्रद्धा-ज्ञान को काट खाते हैं, वह अपने श्रद्धा-ज्ञान को राग-द्वेष से भिन्न रखकर बचा नहीं सकता।

(१३३) जिज्ञासु शिष्य ने पूछा था कि—भगवन्! सम्यग्दर्शन का तथा भेदज्ञान का ऐसा क्या माहात्म्य है कि उससे बंधन रुक जाता है? अहा! वह ज्ञान कैसा होगा जिसके होते ही बंधन छूट जाता है। आत्मा और रागादि का भेदज्ञान हो कि तुरन्त ही बंधन रुक जाता है—यह किसप्रकार? उसके उत्तर में आचार्यदेव ने भेदज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करके समझाया कि—भाई, तू विचार तो कर कि जो ज्ञान है, वह राग में ही प्रवर्तित होता होगा या राग से पृथक् होकर ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्ति करता होगा? यदि वह राग में ही प्रवर्तित होता रहे तो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान ही है

ऐसा तू जान! और यदि वह ज्ञान राग से पृथक् होकर ज्ञानस्वभाव में ही वर्तता है तो ज्ञान में वर्तते हुए उसे बंधन क्यों होगा? नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान से ही बंधन का निरोध सिद्ध हुआ।—किस ज्ञान से? कि स्वभावोन्मुख ज्ञान से। इसप्रकार भेदज्ञान तथा सम्यग्दर्शन की अचिंत्य महिमा समझना चाहिये।

अब बस!

हे आत्मा! अब बस!! नरक के अनंत दुःख–जिन्हें सुनते हुये हृदय काँप उठता है–तूने अनंत काल में अनंत बार सहन किये... किंतु अभी तक सुख या शांति के एक अंश तक का अनुभव नहीं किया... क्योंकि अपने स्वरूप का यथार्थ भान तुझे कभी एक क्षण भी नहीं हुआ। अज्ञान का सेवन कर–करके तूने अपने आत्मा को दुःख में धकेला है... हे आत्मा! अब बस कर! बस कर! इस उत्तम मनुष्य भव में अनंत काल के दुःख टालने का तथा सच्चा सुख प्राप्त करने का अवसर आया है... इस समय यदि तूने अपने स्वरूप को जानने का सच्चा उपाय नहीं किया तो पुनः चौरासी के चक्कर में भटकना पड़ेगा.... इसलिये हे आत्मा! अब तू जाग... और अपने आत्महित के लिये सावधान हो!

प्रवचनसार के प्रवचनों का

सारांश

[राजकोट शहर में प्रवचनसार गाथा १७२ के प्रवचनों से]

'आत्मा का असाधारणव चिह्न क्या है, कि जिसके द्वारा उसे यथार्थ रूप से जाना जा सके ?' —यह प्रश्न जिसके मन में उत्पन्न हुआ है, उसे आचार्यदेव आत्मा का असाधारण चिह्न बतलाते हैं।

जिस आत्मा को जाने बिना अनंत दुःख सहन किये हैं तथा जिसे जानने पर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है, ऐसे आत्मा को जानने की जिसे जिज्ञासा जागृत हुई है, उसे आचार्यदेव कहते हैं कि सुन भाई ! तेरा आत्मा चैतन्य लक्षणवाला है, वह किसी बाह्य चिह्न द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, किन्तु अपनी चेतना को अंतर्मुख करने पर चैतन्य चिह्न द्वारा आत्मा अनुभव में आता है।

आत्मा को समस्त परद्रव्यों तथा परभावों से भिन्न जानने के लिये उसकी असाधारण चेतना ही साधन है, उससे भिन्न दूसरा कोई साधन नहीं है। जिसप्रकार शरीर के अंगभूत एक उँगली द्वारा सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान हो जाता है, किन्तु नाखून द्वारा अथवा लकड़ी द्वारा उसके स्पर्श का अनुभव नहीं होता, क्योंकि वे उसके अवयव नहीं हैं। उसीप्रकार चैतन्य शरीरी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान उसके अवयव रूप ऐसे मति-श्रुतज्ञान द्वारा होता है, परन्तु नाखून जैसे राग-द्वेष द्वारा अथवा लकड़ी के समान इन्द्रियों द्वारा आत्मा के स्वरूप का अनुभव नहीं होता; क्योंकि वे उसके अवयवरूप नहीं हैं।

जिसप्रकार लकड़ी जड़ है, उसीप्रकार शरीर की क्रियाएँ भी जड़ हैं; तथा जिसप्रकार बाहर निकला नाखून शरीर का भाग नहीं है किन्तु मैल-दोष है, उसीप्रकार रागादिभाव भी चैतन्य के स्वभाव का भाग नहीं है किन्तु मल, दोष है। चैतन्यमूर्ति आत्मा में उस जड़ की क्रिया का या राग का प्रवेश नहीं है, इसलिये उनके द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति या धर्म नहीं होता।

चैतन्य की चेतना जागृतस्वरूप है अर्थात् स्व-पर को जाननेवाली है और पुण्य-पाप तो अजागृत हैं, वे स्व को या पर को नहीं जानते। इसप्रकार चेतना और पुण्य-पाप में भिन्नता है; इसलिये पुण्य-पाप को आत्मा के स्वरूप में से निकालकर मात्र शुद्ध चेतनारूप से आत्मस्वरूप को लक्षित करना चाहिये।—यहआत्मा को जानने की रीति है।

देखो भाई, आत्मा को जानने की यह रीति सुनते ही अंतर में चैतन्य का उत्साह जागृत होना

चाहिये। अनंत कालीन परिभ्रमण के दु:ख से छूटकर चैतन्यगृह में आकर अनुभव करने की यह बात है। ऐसे अवसर पर आत्मार्थी को उल्लास आये बिना नहीं रहता।

जिसप्रकार बैल भी दिन भर के कठिन श्रम से थककर शाम को उत्साहपूर्वक दौड़ते हुए घर की ओर लौटते हैं। खेत की ओर जाते समय तो उनके पैर धीरे-धीरे उठते हैं किन्तु शाम को घर लौटते समय दौड़ते हैं; क्योंकि उन्हें खबर होती है कि-अब परिश्रम का अंत हो गया; अब तो घर पहुंचकर आराम से घास खाना है। उसीप्रकार अनंतकाल के भव-भ्रमण से थके हुए आत्मार्थी जीव को जब स्वभाव समझने का अवसर प्राप्त होता है, तब अंतर में उसका पुरुषार्थ उल्लसित हो उठता है; परिणति अपने घर की ओर दौड़ने लगती है। संसारभ्रमण के समय तो पुरुषार्थ सो गया था, किन्तु स्वभाव साधना का अवसर आने पर आत्मार्थी का पुरुषार्थ वेगपूर्वक अंतरोन्मुख हो जाता है; क्योंकि उसे खबर है कि अब अनंत कालीन भवभ्रमण के दु:खों का अंत आ गया है, और स्वभाव के परम आनन्द एवं शांति का अनुभव करना है।—इसप्रकार अपने स्वभाव कार्य को साधने के लिये अंतर में उत्साह आना चाहिये।

जिसके अंतर में आत्मस्वभाव की साधना का उत्साह जागृत हुआ है, तथा उसी की जिसे लगन लग रही है और गुरु के निकट आकर विनय से उसका उपाय पूछता है, उसे श्री आचार्यदेव अनुग्रह-पूर्वक बीस बोलों द्वारा विविध प्रकार से आत्मा स्वरूप समझाते हैं।

आत्मा, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप है; उसे जब शरीर ही नहीं है तो इन्द्रियाँ कहाँ से होंगी? आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है, वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता। पंचेन्द्रिय रूपी जो लिंग, उसके द्वारा पदार्थों का ग्रहण अर्थात् जानना-देखना जिसके नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा को अलिंगग्रहण कहा गया है क्योंकि वह अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप से लक्ष में जाता है।

आत्मा की चेतना इन्द्रियाश्रित नहीं है किन्तु स्व-द्रव्याश्रित है। राग अथवा इन्द्रियों का आश्रय लेकर जाने, ऐसा चेतना का स्वरूप नहीं है; चेतना तो राग और इन्द्रियों से दूर रहकर ही जानती है। आत्मा ऐसी अतीन्द्रिय चेतनास्वरूप है, उसी को यहाँ 'अलिंगग्रहण' कहा गया है।

इन्द्रियाँ जड़ स्वरूप हैं, आत्मा चेतनस्वरूप है। इन्द्रियाँ तो आत्मा नहीं हैं और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जिसका ज्ञान हो, वह भी आत्मा नहीं है। आत्मा तो इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है।

जिसप्रकार जड़, चेतन से विरुद्ध है, उसीप्रकार इन्द्रियाँ, अतीन्द्रिय आत्मा से विरुद्ध

स्वभाववाली हैं। उनके द्वारा आत्मा की प्रतीति कराना कि—'आत्मा इन्द्रिय सहित है अथवा आत्मा इन्द्रियों द्वारा जानता है'—तो वह आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है और आत्मा की यथार्थ प्रतीति के बिना सर्वज्ञ या संतों की भी सच्ची पहिचान या स्तुति नहीं हो सकती।

समयसार गाथा ३१ में सर्वज्ञ भगवान की परमार्थ-स्तुति का स्वरूप समझाते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषयभूत बाह्य पदार्थ—इन तीनों से भिन्न अपने अंतरंग में-प्रगट अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना, वह सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति है। इसप्रकार स्वोन्मुख होकर आत्मा की यथार्थ प्रतीति करने से ही सर्वज्ञ की तथा संत-ज्ञानियों की सच्ची पहिचान होती है और तभी उनकी सच्ची स्तुति की जा सकती है। जाने बिना स्तुति कैसी ?

'इन्द्रियों द्वारा जाने, सो आत्मा'—तो कहते हैं कि नहीं; आत्मा तो सर्वज्ञस्वभावी है। 'इन्द्रियों द्वारा जाने, वह आत्मा'—ऐसा कहने से उसके सर्वज्ञस्वभाव का अपवाद होता है तथा उसमें सर्वज्ञदेव का भी अपवाद है। सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय है, उसे इन्द्रियों का किंचित् अवलम्बन नहीं है। ऐसे अतीन्द्रिय स्वरूप से आत्मा को लक्ष में लेना ही सर्वज्ञ की सच्ची स्तुति है। अतीन्द्रिय आत्मा को इन्द्रियों द्वारा जाननेवाला मानना, उसमें सर्वज्ञ की स्तुति नहीं, किन्तु सर्वज्ञ का अपवाद है।

जिन्होंने अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा के लक्ष में लिया है और उसमें लीनता द्वारा जो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में झूल रहे हैं, ऐसे वीतरागी दिगम्बर संत श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का यह कथन है; उन्होंने विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधरनाथ तीर्थंकर के साक्षात् दर्शन किये थे। उनके अंतर अनुभव में से निकला हुआ यह परम सत्य है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरपूर है तथा राग और जड़ से वह रिक्त है।—ऐसे चैतन्य तत्त्व को जानने की सच्ची आवश्यकता का अनुभव ही जीव ने नहीं किया, इसलिये उसकी आकांक्षा जागृत नहीं हुई। यदि सच्ची आकांक्षा जागृत हो तो उस दिशा में प्रयत्न किये बिना न रहे। जिसप्रकार, जगत में जिसे जिस वस्तु का प्रेम तथा आवश्यकता होती है, उसी वस्तु का वह रटन करता रहता है; उसीप्रकार जिसे चैतन्य का सच्चा प्रेम हो, उसे दिन-रात उसी की धुन बँधी रहती है, उसका प्रयत्न दिन-रात उसी दिशा में चलता रहता है और वह उसे प्राप्त करता ही है।

इन्द्रियों का अभाव होने पर भी ज्ञान का अभाव नहीं होता, क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा

अतीन्द्रिय है, उसका ज्ञान इन्द्रियाश्रित नहीं है। ऐसे आत्मा को ध्येय बनाने से इन्द्रियों तथा बाह्य विषयों की रुचि छूट जाती है। अंतर में अतीन्द्रिय आत्मा का अवलंबन करने से जो निर्विकल्प प्रतीति और आनन्द का अनुभव होता है, वह सम्यग्दर्शन और धर्म है।

आत्मा अतीन्द्रिय चेतनास्वरूप है, वह इन्द्रियों के द्वारा जानता नहीं है और न इन्द्रियों के द्वारा जानने में आता है। अंतर्मुख अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है। साधक के अंतर्मुख हुए मति-श्रुतज्ञान भी अंशतः अतीन्द्रिय हैं, उनसे आत्मा का ज्ञान होता है। इसके अलावा रागादि भाव तो अजागृत-बाह्य वृत्ति हैं, उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता।

आत्मा को जानने की विधि क्या है, उसकी यह बात है। स्वयं अतीन्द्रिय होकर आत्मा को जाने, तभी अतीन्द्रिय ज्ञान की सच्ची प्रतीति होती है। इन्द्रियज्ञान से तो इन्द्रियों की चेष्टा दिखाई देगी, उससे ज्ञानी के अतीन्द्रिय आत्मा की पहिचान-प्रतीति नहीं हो सकती। ज्ञान की प्रतीति बड़ी गहरी है।

जड़ विषयों को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं परन्तु अतीन्द्रिय चैतन्य तत्त्व को जानने में इन्द्रियाँ निमित्त नहीं बन सकतीं; अतीन्द्रिय चैतन्य तत्त्व तो ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। कौन-से ज्ञान द्वारा ? कि इन्द्रियों से पार होकर जो ज्ञान अंतरोन्मुख हुआ, उस ज्ञान द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है; इन्द्रियों द्वारा वह ज्ञात नहीं होता; इसलिये वह 'अलिंगग्रहण' है।

ब्रह्मोपदेश

ज्ञायकमूर्ति आत्मा के स्वभावरूप जो कारणस्वभावज्ञान है, वह सहज है, स्वरूपप्रत्यक्ष है, साक्षात् मोक्ष का मूल है, जीव के परम स्वभावरूप है, तथा वही उपादेय है, इसलिये ऐसे सहज ज्ञान के विलासरूप अनंत चतुष्टय के नाथ आत्मा को भाना चाहिये—ऐसा संतों का उपदेश है।

देखो, यह वीतरागी संतों का ब्रह्मोपदेश! कैसा है यह ब्रह्मोपदेश?—कि संसाररूपी लता के मूल का छेदन कर देनेवाला है। जिसप्रकार हँसिया बेल के मूल को छेद डालता है। उसीप्रकार चैतन्यविलासस्वरूप आत्मा की भावना का यह ब्रह्मोपदेश संसाररूपी लता के मूल को छेद डालने के लिये हँसिये के समान है। जो जीव यह उपदेश ग्रहण करके आत्मा की भावना भाता है, उसका संसार छिद जाता है और पहले जो अनाथ थी, ऐसी मुक्ति सुन्दरी का वह नाथ होता है।

बारह गाथाओं की टीका समाप्त करते-करते टीकाकार श्री पद्मप्रभ मुनिराज को आत्मा के सहज स्वभाव की भावना का अह्लाद आने पर कहते हैं कि—'इसप्रकार संसाररूपी लता का मूल छेदने के लिये हँसियारूप इस उपन्यास से ब्रह्मोपदेश किया।' ब्रह्मोपदेश में क्या कहा है? स्वभाव-चतुष्टय से युक्त ऐसे कारणपरमात्मा को भाना चाहिये—ऐसा कहा है। यह कारण-परमात्मा मुक्ति सुन्दरी का नाथ है; मोक्ष आदि निर्मल पर्यायों का अन्य कोई नाथ नहीं है; अन्य किसी का उसे अवलम्बन नहीं है; आत्मा ही उसका नाथ है, आत्मा का ही उसे अवलम्बन है।—ऐसे आत्मा को भाने का ब्रह्मोपदेश संतों ने दिया है। उससे विरुद्ध जो राग की अथवा व्यवहार की भावना का उपदेश है, वह ब्रह्मोपदेश नहीं है, किन्तु मिथ्यादृष्टि का भ्रमोपदेश है। यहाँ तो भ्रमणा को छेदने के लिये ब्रह्मोपदेश किया है कि राग या व्यवहार कोई उपादेय नहीं हैं, इसलिये उनकी भावना छोड़कर अंतर्मुख होकर सहज चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना करो। भावना अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और लीनता; उसी के द्वारा संसार के मूल का छेदन हो जाता है। संसार का मूल भ्रमणा है और भ्रमणा का छेदन इस ब्रह्मोपदेश द्वारा हो जाता है।

जिसप्रकार श्री समयसार में बारह गाथाओं तक पीठिका है और फिर पन्द्रहवीं गाथा तक अलौकिक बात है... पन्द्रहवीं गाथा में तो 'जिनशासन' की अलौकिक बात कही है; उसीप्रकार इस नियमसार में भी बारह गाथाएँ समाप्त होने पर टीकाकार महामुनि कहते हैं कि '.....यह ब्रह्मोपदेश किया.....'

अहो! संतों के हृदय अगाध हैं। 'इसमें बहुत सूक्ष्म उपदेश है'—ऐसा बतलाने के आशय से टीकाकार मुनिराज ने इसे 'ब्रह्मोपदेश' कहा है। ब्रह्म=आनन्दस्वरूप जो आत्मा, उसकी भावना का यह उपदेश है। इस ब्रह्मोपदेश को समझकर जो जीव आत्मस्वभाव की भावना करेगा, उसके संसार का मूल छिद जायेगा.... और वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

जयवंत हो वीतरागी संतों का ब्रह्मोपदेश!

त्रिमूर्ति का अवतार!

धवला, जयधवला और महापुराण—इन महान साहित्य-ग्रन्थों की रचना श्री वीरसेनाचार्य, श्री जिनसेनाचार्य तथा श्री गुणभद्राचार्य—इन तीन महान संतों द्वारा हुई है।

(१) प्रथम श्री वीरसेन स्वामी ने षट् खण्डागम पर ७२००० श्लोक प्रमाण **धवला टीका** की रचना की और तत्पश्चात् उन्होंने कषाय प्राभृत पर **जयधवला टीका** लिखना आरम्भ किया; परन्तु उसकी २०,००० श्लोक प्रमाण टीका होने पर ही उनका स्वर्गवास हो गया... और अधूरी जयधवला टीका को पूर्ण करने का कार्य उनके सुयोग्य शिष्य श्री जिनसेनाचार्य के हाथ में आ गया।

(२) श्री जिनसेनाचार्य ने ४०,००० श्लोक रचकर (ई. सन. ८३७) में जयधवला टीका पूर्ण की और महापुराण की रचना आरम्भ की; परन्तु इसी बीच उनका स्वर्गवास हो जाने के कारण महापुराण की रचना अपूर्ण रह गई और उसे पूर्ण करने का कार्य उनके सुशिष्य श्री गुणभद्रस्वामी पर आया।

(३) जिनसेनस्वामी की अधूरी रचना को उनके शिष्य श्री गुणभद्रस्वामी ने (ई. सन. ८९७ में) पूरा किया। महापुराण के लगभग २०,००० श्लोक हैं; उनमें से १०,००० श्लोक श्री जिनसेनस्वामी ने रचे हैं और शेष की रचना श्री गुणभद्रस्वामी ने की है।

—इसप्रकार वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र—इन तीन महान आचार्यों ने एक-दूसरे की

संधिपूर्वक अविच्छिन्न परम्परा से धवला, जयधवला, और महापुराण ऐसे तीन महान साहित्य-ग्रन्थों की रचना की। इस घटना से ऐसा घटित होता है मानो इन तीन महान साहित्य-निधियों की रचना के लिये ही इन असाधारण त्रिमूर्ति का अवतार हुआ हो!

वंदन हो उस त्रिमूर्ति को... और उसके अपार श्रुत को!

पूज्य श्री कानजी स्वामी के मंगल विहार का कार्यक्रम

शहर जामनगर (सौराष्ट्र) में (दो लाख लागत का) बड़ा विशाल जिन मंदिर तैयार हुआ है। पंच कल्याणक महा महोत्सव के उपलक्ष में यह विहार हो रहा है। श्री गिरनारजी तीर्थधाम की यात्रा भी होगी तथा कुंडला शहर में नया जिनमंदिर हुआ है, वहाँ वेदी प्रतिष्ठा है। सोनगढ़ से गुरुदेव के विहार का कार्यक्रम:—

ता० १२-१-६१ सोनगढ़ से जामनगर की ओर विहार होगा।

जामनगर—ता० १३-१-६१ से २४-१-६१ तक ठहरेंगे। वहाँ माघ सुदी ७ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव है। जामनगर बड़ा बंदरगाह है। बड़ा शहर है, आनेवालों के लिये अच्छी तरह सुविधा व अनुकूलता रहेगी।

ता० २५-१-६१ गोंडल - वहाँ भी बड़ा जिन मन्दिर नया है।

जूनागढ़—गिरनार यात्रा संघ सहित ता० २६ से २९। पहाड़ पर वंदना के लिये तारीख २७-२८ जनवरी ६१, शुक्रवार-शनिवार।

पोरबंदर—ता० ३०-१-६१ से ६-२-६१ तक।

जेतपुर—ता० ७-२-६१ यहाँ भी नया विशाल जिन मंदिर है।

राजकोट—ता० ८-२-६१ से १९-२-६१ तक।

लाठी—ता० २०-२-६१, यहाँ भी जिन मंदिर है।

सावर कुंडला—फागण सुदी ७ से चैत्र बदी १, ता० २१-२-६१ से ता० ३-३-६१ वहाँ फागण सुदी ११ नया जिन मंदिर में वेदी प्रतिष्ठा है।

सोनगढ़ प्रवेश—ता० ४-३-६१ चैत्र बदी २।

मुक्ति का मार्ग (दूसरी आवृत्ति)

जिसमें सभी जिज्ञासुओं को समझने में सुगम शैली है। हित के मार्ग में प्रवेश करनेवालों को प्रथम किस-किस बात का ज्ञान जरूरी है। वह बात मुख्यरूप से है—थोक लेकर प्रचार कीजिये पृ० संख्या १०२, मूल्य ५० नया पैसा।

★

श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

तीसरा भाग (दूसरी आवृत्ति)

प्रेस में छपना चालू है, १ सप्ताह में तैयार हो जावेगी।

★

स्व० दौलतरामजी कृत

छहढाला की

विस्तृत टीका

छहढाला की ऐसी विस्तृत स्पष्ट टीका अभी तक नहीं छपी। जिज्ञासुओं के मनन करने योग्य टीका है, छप रही है, पूर्ण होते ही सूचित किया जावेगा।

★

समयसार प्रवचन

प्रथम भाग (दूसरी आवृत्ति)

जो कि कुछ दिनों से अप्राप्य हो रहा था, वह प्रेस में छपने दे दिया गया है, जो कि उत्तम ढंग से संशोधन पूर्वक शीघ्र ही प्रकाशित होगा। मूल्य भी कम रखा जावेगा।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।